



Original Article

सिनेमा में जातीय समस्याएँ

प्रो. डॉ. सुवर्णा नरसू कांबळे

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग

कला व वाणिज्य महाविद्यालय, सातारा.

Manuscript ID:

IJAAR-C130302

ISSN: 2347-7075

Impact Factor – 8.141

Volume - 13

Issue - 3

January – February 2026

Pp. 6 - 10

Submitted: 10 Jan.2026

Revised: 20 Jan. 2026

Accepted: 10 Feb. 2026

Published: 28 Feb. 2026

Corresponding Author:

प्रो. डॉ. सुवर्णा नरसू कांबळे.

Quick Response Code:



Website: <https://ijaar.co.in/>



DOI: 10.5281/zenodo.22774450

DOI Link:

<https://doi.org/10.5281/zenodo.22774450>



Creative Commons



सार:

भारतीय सिनेमा प्रारंभिक काल में आदर्श समाज निर्मिती के उद्देश से आदर्शवादी सिनेमा का निर्माण करता रहा। परंतु, 21वीं सदी तक आते – आते सिनेमा व्यावसायिक और रचनात्मक दो हिस्सों में बटता दिखाई देता है। व्यावसायिक सिनेमा ने रोमांटिक सिनेमा का निर्माण किया। वहीं रचनात्मक सिनेमा ने सामाजिक समस्याओं को अंकित किया है। आज रचनात्मक सिनेमा में दलित, वंचित, आदिवासी एवं स्त्रियों की समस्याओं, जीवन संघर्ष पर सिनेमा बनाकर जातीयवाद से निजाद पाने के मार्ग को सशक्त बनाने की पहल जारी है। जैसे – आरक्षण, आर्टिकल 15, मसान, न्यूटन, कर्णन, झुंड, कोर्ट, फैट्री, जयंती आदि सिनेमा इसके उदाहरण हैं।

मुख्य शब्द: रचनात्मक, जातीयवाद, संविधान, मानवाधिकार, बाजारीकरण।

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International License (CC BY-NC-SA 4.0), which permits others to remix, adapt, and build upon the work non-commercially, provided that appropriate credit is given and that any new creations are licensed under identical terms.

How to cite this article:

प्रो. डॉ. सुवर्णा नरसू कांबळे. (2026). सिनेमा में जातीय समस्याएँ. *International Journal of Advance and Applied Research*, 13(3), 6 – 10. <https://doi.org/10.5281/zenodo.22774450>

प्रस्तावना:

समाज, साहित्य और सिनेमा का परस्पर सहसंबंध होता है। देश – विदेश के समाज का अंतरंग जानना हो तो सिनेमा मनोरंजन के साथ – साथ उद्बोधन का सशक्त माध्यम है। सिनेमा भूत, भविष्य और वर्तमान को लेकर अच्छे समाज

निर्माण की कल्पना को प्रतिबिंबित करता है। परंतु, वर्तमान विषयों पर बने सिनेमा की ओर मनुष्य ज्यादा आकर्षित होता है। क्योंकि, मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते वह जिस समाज, परिवेश, संस्कृति में रहता है, उस भावविश्व के नजदीक ले जानेवाले सिनेमा का निर्माण करना आवहानात्मक होते हुए



भी उन्हें धागों को पकड़कर मानवीय जीवन की घटनाओं को प्रस्तुत करते समय निर्माता प्रेक्षक को उद्देश के नजदीक ले जाने के साथ – साथ आर्थिक लाभ को भी ध्यान में रखता है। इसलिये मनुष्य के सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक विषयों के साथ – साथ वैज्ञानिक एवम् अंतराल विश्व को लेकर सिनेमा तैयार हो रहे हैं। फिर भी सिनेमा मानवीय समाज, कला, संस्कृति और मनोरंजन को प्रस्तुत करनेवाला सशक्त जनसंचार माध्यम रहा है।

विषय प्रस्तुती:

1990 के बाद भारतीय सिनेमा जगत में व्यावसायिक और रचनात्मक ऐसी दो धाराएँ प्रवाहित हुईं नजर आती हैं। देश के स्वतंत्रता के पचास साल बाद भी समाज में स्थित समस्याओं पर रचनात्मक सिनेमा भाष्य करने लगा था। प्रमुखता से सामाजिक राजकीय, आर्थिक, धार्मिकता, भ्रष्टाचार, नारी जीवन, राष्ट्रवाद को लेकर प्रेमभाव से परे होकर मनुष्य जीवन के अन्य बिंदुओं पर दृष्टि केंद्रित करता नजर आने लगा। इसमें एक प्रमुख बिंदु रहा है- इस देश में स्थित वर्णव्यवस्था और जातीयवाद। आधुनिकीकरण, भूमंडलीकरण, बाजारीकरण के इस दौर में भी भारत देश में हशिए पर रखे दलित, आदिवासी, वंचित और नारी का मानवीय अधिकार प्राप्ति का संघर्ष निरंतर जारी है। छूआ – छुत, जातीय भेदभाव, धार्मिक, संप्रदायिक दंगे फसाद देश को मिला अभिशाप है। इससे मुक्तता पाने के लिए कई समाजसुधारकों ने जीवन समर्पित किया। संविधान निर्माता डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जी ने समस्त भारतवासियों को संविधान के माध्यम से समान मुलभूत अधिकार प्रदान करने के बावजूद हशिए पर रखा समाज मानवाधिकार से वंचित रखा जा रहा है। भारतीय सिनेमा में प्रारंभिक काल में दलित, वंचित, मजदूर एव नारी के

प्रश्न, समस्याओं पर सामाजिक विद्रोह का चित्रण जरूर हुआ। परंतु, उससे निजाद पाने के अंतिम हल तक ना यह समाज प्रयत्नशील रहा न सिनेमा। तत्कालीन प्रेमचंदकालीन प्रगतिशील साहित्यकारों ने दलित, वंचित, नारी की समस्याओं पर लिखकर सहानुभूती दृष्टि रखते हुए आदर्शवादी समाज निर्मिती का ख्वाब देखा था; यह गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव था। जिसमें वर्णव्यवस्था मान्य थी। परिणाम स्वरूप; भारतीय समाज से जड़ से जातीयवाद खत्म करने में साहित्यकारों और सिनेमा के प्रयास असफल रहा। इस बारे में जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं – “भारतीय समाज में चिंतन कि हर गाड़ी जाति के स्टेशन से बचकर निकालती है। जब कि दलितों के प्रती करुणा दिखाकर वह अछूत कन्या, अछूत बूट पालिश और सद्गति जैसी फिल्मों का निर्माण तो करता है किन्तु, जिस तल्खी और शिद्दत से जाति के प्रश्न को उठाये जाने की जरूरत है, उस तरह से नहीं उठाया।”¹

नब्बे के दशक में वैश्विकीकरण, बाजारवाद और नई तकनीकी विकास के चलते सिनेमा क्षेत्र में चकाचौध की दुनिया का चित्रण होने लगा। सेक्स, हिंसा, अश्लीलता, सांप्रदायिक, प्रादेशिक संघर्ष का चित्रण सामाजिक मूल्यों पर गहरा प्रभाव डालत रहा। सिनेमा मानवीय संवेदना को खत्म करते हुए, हिंसा के चित्रण को प्राथमिकता देते हुए आर्थिक आय को ध्यान में रखते हुए निर्माण होने लगे। बासू चटर्जी कहते हैं – “भारतीय सिनेमा 100 करोड़ क्लब के चपेट में आ चला है, यह एक प्लेग है।”² व्यावसायिक सिनेमा युवा पीढ़ी के उपभोक्तावादी वृत्ति को बढ़ाकर मानवीय संवेदना को कुंठित करने का काम कर रहा है। 1980 के दौर में महाराष्ट्र में दलित, वंचित समाज के पढ़े-लिखे लोगों ने अपने समाज जीवन का भोगा हुआ यथार्थ लिखकर साहित्य क्षेत्र में दलित साहित्य नाम की धारा प्रवाहित की। इसी साहित्य के यथार्थ से और डॉ



बाबासाहेब आंबेडकर जी ने दी हुई त्रिसूत्री “शिक्षित बनो, संघटीत बनो और संघर्ष करो” इस त्रिसूत्री को ध्यान में रखते हुए विश्व पटल पर दलित, वंचितों यथार्थ को सामने लाने के लिए सिनेमा को सशक्त माध्यम मानकर अपना थिएटर, अपना सिनेमा निर्माण कर सच्चाई को सामने लाने का प्रयास कर रहा है। वही उच्चवर्णीय युवाओं ने भी बाजारीकरण के चलते जाति –पाती, छूआ –छुत से परे जाकर विश्वमानव की कल्पना स्वीकार कर वर्णव्यवस्था का विरोध कर रहा है। तो दूसरी ओर राष्ट्रवाद के नाम पर धार्मिक, संप्रदायिक, जातीय दंगे –फसाद का चित्रण करनेवाले सिनेमा का निर्माण राष्ट्रीय एकात्मता को खंडित कर रहा है। परंतु, समताधिष्ठीत मानवतावादी समाज और बंधुता निर्माण करनेवाले दलित जीवन का चित्रण करनेवाले सिनेमा निर्माण कर युवा वर्ग सामाजिक प्रतिबद्धता का प्रमाण दे रहा है। डॅनिस मकविल कहते हैं – “केवल मनोरंजन के माध्यम के रूप में सिनेमा को दिखाना सामाजिक स्वतंत्रता का दुरुपयोग है।”³

21 वीं सदी के रचनात्मक सिनेमा में दलित, वंचित एवं नारी की गुणात्मकता, शैक्षिक संघर्ष, न्याय की लड़ाई को दिखाना प्रारंभ किया। जैसे – ‘बवंडर’ (2000), ‘आरक्षण’ (2011), शूद्रा : द रायडिंग (2012), ‘माझी : द माऊटन’ (2015), ‘मसान’ (2015), ‘न्यूटन’ (2017), ‘काला’ (2018), ‘आर्टिकल:15’ (2016), ‘असरून’ (2019), ‘कर्णन’ (2021), मराठी सिनेमा ‘झुंड’ (2002), ‘कोर्ट’ (2023), ‘जयंती’ (2023) आदि।

‘आरक्षण’ (2011) में प्रदर्शित सिनेमा में जाति आधारित आरक्षण को लेकर शिक्षा क्षेत्र में चलती भेद नीतियाँ, भ्रष्टाचार और लाभ उठनेवाले नेता और देश की एकता, समता की महत्ता समझनेवाले गुरु और युवा छात्र की मानसिकता को चित्रित करता है। भारतीय संविधान के माध्यम से दलित

, वंचितों को आरक्षण देकर गुणवत्ता का गला दबोचकर उच्चवर्णियों पर अन्याय किया है, इस भावना से पिछड़े वर्ग को तिरस्कार का सामना हर जगह करना पड़ता है। आरक्षण को सौगात माननेवाले और आरक्षण लेनेवालों के बीच का संघर्ष मित्रता को भी भुलाने के लिए बाध्य करते परिवेश में गुरु ही देश के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाला चित्रित करते हुए मानवतावादी समाज निर्माण में गुरु की भूमिका को रेखांकित करता है। देश की जी डी पी बढ़ा –चढ़ाकर और मुफ्त का अनाज देकर समताधिष्ठित समाज का निर्माण नहीं हो सकता; बल्की भ्रष्टाचार मुक्त शैक्षिक संकुल होने की आवश्यकता को दर्ज करता है।

‘आर्टिकल :15’ (2019) में प्रदर्शित सिनेमा में भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव और आत्याचार, शोषण पर भाष्य करता है। भारतीय संविधान में ‘आर्टिकल :15’ के तहत सब भारतियों को समान मूलभूत अधिकार प्रदान करता है। परंतु, आज भी गांव –गांव में अपने दैनंदिन व्यवहार में दलितों को धर्म, जात, वंश, लिंग एवं प्रदेशिकता के आधार पर भेदभाव का सामना करना पड़ता है। उन्होंने आवाज उठाई तो उन पर अन्याय –अत्याचार किये जाते हैं, यह जात वास्तव है। इस जात वास्तव पर आर्टिकल :15 भाष्य करता है। अपने मजदूरी के कम पैसे मिलने पर उस पर सवाल उठानेवाली दो लड़कियों की हत्या की जाति है। उन्हें न्याय दिला ने शहर से आया पुलिस अधिकारी का अपने ही उच्चवर्णीय लोगों से संघर्ष करना पड़ता है। पद –दलितों की दयनीय स्थिति उन्हें शोषित बनकर दयनीय अवस्था में जीने के लिए बाध्य करती है, वही उच्चवर्णीय नायक उन्हें बचाने का संघर्ष करता है। यह सत्य स्पष्ट करता है कि दलित आज भी आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और राजनीतिक स्तर पर सक्षम नहीं है। देश भी समाज में फैली असमानता, भेदभाव को दूर करने में असफल



होना राजनीतिक लोगों का अपयश है, या उच्चवर्णीय लोगों की जीत है ; या यहाँ का समाज मनुष्य बनकर जीना नहीं चाहता है या दलितों को मनुष्य की तरह जीने देगा ; यह संशोधन का विषय रहा है। क्यों की यहाँ के राष्ट्रवाद में दलित, वंचित और स्त्रियों का उद्धार एक खांब बनकर रहेगा। उन्हें अपने हिस्से की जंग खुद लड़नी होगी।

महाराष्ट्र के दलित युवा निर्माता नागराज मंजुळे का 'झुंड'(2022) का सिनेमा हशिए पर रखे दलितों में छिपी गुणात्मकता को सामने लाता है। स्लम एरिया में रहनेवाले बच्चों में भी हर क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त करने की क्षमता रहती है, सिर्फ उन्हें मौका और उचित मार्गदर्शन मिलना चाहिए इस बात को रेखांकित करता है। साथ ही दलित, वंचित लोगों को उचित स्थान प्राप्त न हो इसलिये हमेशा प्रयत्नशील रहनेवाले जातीय भेदभाव रखनेवालों की मानसिकता का चित्रण करता है। वही अपने गुणवत्ता से विषमता की दिवार तोड़ने की क्षमता दलित युवा वर्ग में दिखाते हुए अपने समय को हम नायक बना सकते हैं का आत्मविश्वास है। साथ ही 2013 में प्रदर्शित 'फैड्री' सिनेमा में नागराज मंजुळे ने ग्रामीण भारत में व्याप्त जातीयवाद एवं छूआ-छुत का यथार्थ चित्रण किया है। इस सिनेमा में नागराज ने व्यवस्था का खुलकर सामना करने की इच्छा रखनेवाले किशोरवयीन नायक जब्या के मानसिक द्वंद्व का यथार्थ चित्रण किया है। दलित बच्चों के शिक्षा प्राप्त करने के काल में जातीय संघर्ष की यातनाओं के चपेट में आकर विद्रोही या नक्षली बनने की प्रक्रिया की ओर संकेत कर समाज को सोचने के लिए बाध्य करता है। परंपरागत व्यवसाय किये बिना गांव की व्यवस्था उन्हें जीने नहीं देती। आज भी अस्पृश्यता को झेलते हशिए का समाज पशु से भी बर्तन जिन्दगी जिता है, इस भारत देश की वास्तविकता को दर्शाने में सिनेमा सफल हुआ है। इसके साथ-साथ मराठी के

'सैराट', 'कोर्ट', 'जय भीम', 'जयंती' आदी सिनेमा में आधुनिक माने जानेवाले समाजमन में छिपी जात वास्तव का यथार्थ चित्रण करता है। देश की उन्नति में बाधा बना जात वास्तव को दिखाना आज के दलित युवा निर्मातों का प्रयास दलितों के समस्याओं को समाज के सामने लाकर उनकी गुणवत्ता को स्विकार ने को बाध्य करता है। आशा है, आनेवाली पिढीयाँ जातीय मानसिकता से मुक्त होकर मानवतावादी समाज की ओर चल पड़े।

निष्कर्ष:

साहित्य समाज और सिनेमा का अन्योन्य सम्बंध होता है। साहित्य समाज का प्रतिबिंब होता है तो सिनेमा उसी प्रतिबिंब को दृश्यमान कर समाजमन को प्रभावित करता है। इसलिये सिनेमा को मनोरंजन के साथ-साथ समाज प्रबोधन का सशक्त माध्यम माना जाता है। भारतीय सिनेमा इतिहास में प्रारंभ में सामाजिक विसंगतियों, राजनीतिक भ्रष्टाचार, राष्ट्रीय एकात्मता, अछूतोंद्वारा, नारी समस्या, अंधश्रद्धा, जातीयवाद, धार्मिक – संप्रदायिक दंगे – फसाद को लेकर सिनेमा बने। इसमें व्यावसायिकता के साथ साथ मानवीय भाव – भावनाओं को स्थान देकर रंगीन मानवीय संसार का चित्रण हुआ, जिस में जीवन यथार्थ कम ही आंका गया। 1990 के बाद रचनात्मक सिनेमा का दौर प्रारंभ होकर मानव जीवन के सूक्ष्म बिंदुओं पर भाष्य होने लगा। इसमें से भारतीय समाज में स्थित जातीयता पर 21 वीं सदी के फिल्म निर्माता ने काम कर दलित, वंचित समाज में स्थित गुणात्मकता को सामने लाकर खुद के जीवन का शिल्पकार बनने की प्रेरणा देता है। तथागत बुद्ध के 'अत्त दीप भव' ! को स्विकार कर विश्व में ज्ञान का प्रतिक बने डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर जी ने दि हुई त्रिसूत्री "शिक्षित बनो, संघटीत बनो और संघर्ष करो।" को अपनाकर आगे बढ़ने की



प्रेरणा देता है। 'आरक्षण', 'आर्टिकल :15', 'मसान', 'न्यूटन',
'कर्णन', 'कोर्ट', 'झुंड', 'फैट्री', 'जयंती आदि सिनेमा इसके
उदाहरण हैं।

संदर्भ सूची:

1. कर्दम जयप्रकाश, 'सिनेमा के सौ वर्ष', पत्रिका- 'वर्तमान
सहित्य', सं-अगस्त-दिसंबर- 2002, पृ -306.
2. चटर्जी बासू, पत्रिका 'हंस', सं – फरवरी -2013 , पृ -23.
3. शहा पन्ना, 'द इंडियन फिल्म मिशन', सं -पिक्चर
सोसायटी ऑफ इंडिया', 1950 ,पृ -7.